गुरु-शिष्य का स्वरूप एवं अन्तःसम्बन्ध

क्षुल्लक श्री ध्यानसागर जी

गुरु में ज्ञान के साथ निरभिमानता, निःस्वार्थता, करुणा, सरलता, निर्विकारता, आचरण में शुद्धता आदि अनेक गुण होते हैं तो शिष्य में गुरु के समर्पण, विनयशीलता, गुणग्राहिता जैसे सद्गुण होते हैं। गुरु एवं शिष्य दोनों सद्गुणी हों तो कहना ही क्या? आचार्य विद्यासागर जी के शिष्य क्षुल्लक ध्यानसागर जी के प्रस्तुत आलेख में उत्कृष्ट गुरु एवं श्रेष्ठ शिष्य के स्वरूप का निरूपण तो हुआ ही है उनके पारस्परिक सम्बन्ध की भी विशद चर्चा हुई है। आलेख मननीय एवं धारणीय है। **-सम्पादक**

गुरु-शिष्य का सम्बन्ध आस्था और प्रेम का पवित्र सम्बन्ध है। भले ही सम्बन्ध बन्धन हो, पर यह बन्धन अनन्त-बन्धन का अन्त करता है। गुरु, शिष्य को भौतिक जगत् से ऊपर उठाकर भावना-जगत् में स्थापित करते हैं जहाँ से अध्यात्म-जगत् की उड़ान भरी जा सके। भावना-जगत् की नींव करुणा है और शिखर विश्व-प्रेम है। इसी प्रकार अध्यात्म-जगत् का प्रवेशद्वार निज का एकत्व-बोध है तथा साक्षी-भाव उसका उन्नत शिखर है। मैं-तू, मेरा-तेरा, प्रिय-अप्रिय, सुख-दुःख, छोटा-बड़ा, राग-द्वेष, ग्रहण-त्याग आदि द्वन्द्व अध्यात्म के असीम विस्तार में न जाने कहाँ विलीन हो जाते हैं। अपने आप को उच्च अथवा तुच्छ समझना तात्त्विक भ्रम है, अतः इसके निवारण बिना कभी यथार्थ एकत्व-बोध नहीं होता।

प्रायः देखा जाता है कि मनुष्य सफल होने पर अपनी क्षमता पर फूल उठता है और असफल होने पर अपनी क्षमता को भूल बैठता है, संपत्ति में अपने को सबल और विपत्ति में निर्बल समझने लगता है। एक असहाय संकटग्रस्त मानव का अकेलापन अध्यात्म-जगत् का एकत्व-बोध नहीं है, क्योंकि वह अंतरङ्ग-तत्त्व से अपरिचित है, केवल बाह्य-जगत् में उलझा है। तत्त्व का शाब्दिक परिचय उलझन का समाधान नहीं है अतः जीवन में गुरु का स्थान अनिवार्य हो जाता है, क्योंकि सुलझने का रहस्य तो उन्हीं के पास है, अन्यत्र नहीं। यथार्थ गुरु अन्दर-बाहर से योगी होते हैं, भोगी नहीं, कारण कि विलासिता और सात्त्विकता में 36 का आँकड़ा है। आँखों में निःस्वार्थ प्रेम, हृदय में अपरिमित-करुणा, शुद्ध-आचरण, अगाध-अनुभव, निरभिमानता, सरलता एवं शिशु जैसी निर्विकार-छवि में ब्रह्मचर्य का दिव्य तेज, गुरु के जीवन में अहिंसा का अमृत-रस घोलने वाले दुर्लभ गुण हैं। यही कारण है कि गुरु साक्षात् शान्तिदूत होते हैं।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

द्वैत से अद्वैत की यात्रा अहंकार के विसर्जन बिना असंभव है और अहंकार-विसर्जन गुरु के प्रति समर्पण बिना असंभव है। भौतिकतावादी कहता है कि समर्पण तो पराधीनता है और कहा है 'पराधीन सपनेहु सुख नाहीं।' इसका उत्तर है कि अनिच्छा अथवा दबाव से होने वाली विवशता तो पराधीनता है, जो दुःखदायक है, लेकिन भक्ति-वश होने वाला समर्पण इससे भिन्न इसलिये है क्योंकि उसमें परतन्त्रता संबंधी कष्ट नहीं है। गुरु शिष्य पर शासन नहीं चलाते, शिष्य स्वयं उनके अनुशासन में चलता है। अधिकारपूर्ण-शासन और समर्पणपूर्ण-अनुशासन को एक श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। गुरु शिष्य को यन्त्रवत् संचालित नहीं करते, सम्यक्-पुरुषार्थ सिखाते हैं। सर्वप्रथम अंगुलि पकड़ कर चलाते हैं, पश्चात् स्वावलम्बी बना देते हैं। यह तो दुःख-मुक्ति का मार्ग है, इसे दुःख समझना अविवेक है।

जिस प्रकार एक अनगढ़-पाषाण को कोई कुशल शिल्पी भगवान् का आकार प्रदान करता है, उसी प्रकार गुरु शिष्य का शुद्धीकरण करते हैं। आचरण ही दोनों के जीवन की शोभा है अतः पद की गरिमा को अखण्डित रखने के लिये वे कभी चारित्र की मर्यादा का उल्लंघन नहीं करते। सत्य-निष्ठा आस्था पर आधारित है इसलिये शिष्य अपने गुप्ततम दोष भी गुरु से नहीं छिपाता और गुरु कण्ठगत-प्राण होने पर भी उसके दोष प्रकट नहीं करते, क्योंकि वे जानते हैं कि अपराध का प्रचार अपराधी के सुधार में बाधक है। अपमानित दोषी दोष-मुक्त तो नहीं होता, किन्तु लोक-लाज छोड़ बैठता है अथवा गुप्त-दोषी बन जाता है। गुरु उसे इस पतन से बचाते हैं। गुरु पापी से घृणा नहीं करते, उसे पापों से घृणा करा देते हैं। उनका वात्सल्य हत्यारे को भी सन्त में बदल देता है।

गुरु शिष्य को जीवन-निर्वाह की संकीर्ण परिधि से बाहर निकाल कर जीवन-निर्माण की कला सिखाते हैं। वे ही निर्वाण का मार्ग दिखाते हैं। वस्तुतः गुरु एक अलौकिक चिकित्सक हैं, शिष्य रोगी है, कर्म रोग है एवं संयम-साधना औषध है। प्रत्येक रुग्ण का उपचार क्या समान हो सकता है? विवेकी शिष्य जानता है कि जब गुरु किसी को अधिक समय अथवा प्रोत्साहन देते हैं, तब वे पक्षपात नहीं करते। जटिल रोग से ग्रस्त मनुष्य पर विशेष ध्यान देना पड़ता है। यदि वे अकारण ही किसी शिष्य पर कृपा-वृष्टि करते हैं, तो भी उसका भाग्य ही सराहने योग्य है, क्योंकि गुरु पात्रता के पारखी होते हैं। ईर्ष्या शिष्यत्व पर कलंक है।

शिष्यत्व अहंकार-विसर्जन का नाम है। गुरु शिष्य को तो पतित से पावन बना देते हैं, परन्तु उस अभिमानी का कल्याण नहीं कर पाते, जो अपने आप को गुरु से अधिक चतुर समझता है। बुद्धिमत्ता का अभिमान अस्थान में भी तर्क उत्पन्न करता है और तर्कों की परिधि से बाहर आए बिना आस्था असंभव है। आस्था के अभाव में भक्ति, भक्ति के बिना समर्पण और समर्पण बिना गुरु-शिष्य-सम्बन्ध असंभव है। गुरु बिना जीवन का रहस्य, रहस्य ही रहता है। एक युवा साहित्यकार ने कहा है-

"जिसके जीवन में गुरु नहीं, उसका जीवन शुरू नहीं।"

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

हृदयस्पर्शी वाणी से सभा को अश्रुपूरित करने वाले पूज्य श्रमण श्री क्षमासागर मुनि कहते हैं, ''समर्पण की पीड़ाएँ स्वच्छन्दता के सुखों से श्रेयस्कर हैं।''

इन्द्रियों एवं मन पर विजय पाना स्वेच्छाचारी मनुष्य का कार्य नहीं है, अतः गुरु कठोर-आचरण द्वारा शिष्य को पहले कष्ट-सहिष्णु बनाते हैं। सुविधाभोगी मानव अध्यात्म का पात्र नहीं होता। जो इन्द्रिय-जगत् से ऊपर नहीं उठा, वह आध्यात्मिक जगत् में कैसे अवकाश पा सकता है? चूँकि विषयी मानव की संवेदनाएँ मृतप्राय हो जाती हैं, वह भावना-जगत् में भी स्थान नहीं प्राप्त कर पाता। भावना-जगत् में आए बिना शुद्धीकरण प्रारम्भ नहीं होता। घृणा, उदासी, निराशा, ईर्ष्या, आघात, तनाव आदि नकारात्मक भावनाएँ सत्प्रेम, करुणा, सत्यनिष्ठा, निःस्वार्थ-सेवा, भक्ति आदि सद्भावनाओं द्वारा विलय को प्राप्त होती हैं। शिष्य की भावनात्मक-शुद्धि के लिये कभी तो गुरु उसे वात्सल्यपूर्वक प्रोत्साहित करते हैं, तो कभी कठिन प्रायश्चित्त द्वारा प्रताड़ित भी करते हैं। शिष्योत्थान के प्रति समर्पित गुरु का उपकार एक ऐसा ऋण है, जिसे निर्वाण प्राप्त कर ही चुकाया जा सकता है।

संसार में गुरुकृपा सबसे निराली, होली यही दशहरा यह ही दिवाली।
जो शिष्य है वह सदैव ऋणी रहेगा, कोई कभी न उपकार चुका सकेगा।।

सन्त कबीरदास जी ने कहा है-

गुरु कीजिये जानि कै, पानी पीजै छानि।
बिना विचारे गुरु करै, परै चुरासी खानि।।

यह उसके लिये चेतावनी है, जो शिष्य बनकर अपना जीवन गुरु को सौंपने जा रहा है। उतावली का परिणाम घोर पश्चात्ताप हो सकता है, अतः पुरातन शास्त्रों में प्राप्त गुरु-विषयक कुछ सामग्री पर दृष्टिपात करना हितकर होगा। पञ्चम शती के विद्वान् तपस्वी आचार्य पूज्यपाद स्वामी 'इष्टोपदेश' में कहते हैं-

अज्ञानोपास्तिरज्ञानं ज्ञानं ज्ञानिसमाश्रयः।
ददाति यत्तु यस्यास्ति सुप्रसिद्धमिदं वचः।।

अर्थः- अज्ञानी की उपासना अज्ञान को, किन्तु ज्ञानी की शरण ज्ञान को प्रदान करती है, यह कथन सुप्रसिद्ध है कि जिसके पास जो है, वह वही दे सकता है।

नवम शताब्दी के ग्रन्थ 'आत्मानुशासन' में पक्षोपवासी आचार्य गुणभद्र देव कहते हैं-

श्रुतमविकलं शुद्धा वृत्तिः परप्रतिबोधने,
परिणतिरुरुद्योगो मार्गप्रवर्तनसद्विधौ।
बुधनुतिरनुत्सेको लोकज्ञता मृदुतास्पृहा,
यतिपतिगुणा यस्मिन्नन्ये च सोऽस्तु गुरुः सताम्।।

(आत्मानुशासन, 6)

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ:- परिपूर्ण शास्त्रज्ञान, निर्दोष आचरण, दूसरों को समझाने की प्रवृत्ति, सन्मार्ग-प्रवर्तन की विधि में महान् उद्यम, विद्वानों द्वारा प्रशंसित होना, गर्व-रहितता, लोक-मर्यादा का ज्ञान/मनुष्य की पहचान, कोमलता, निःस्पृहता और अन्य भी मुनिराजों के गुण जिनमें हैं, वह सज्जनों के गुरु हों।

गुरु और शिष्य दोनों के स्वरूप को प्रकाशित करते हुए क्षत्र-चूडामणि ग्रन्थ में आचार्य वादीभसिंह सूरि लिखते हैं-

रत्नत्रयविशुद्धः सन् पात्रस्नेही परार्थकृत्।
परिपालितधर्मो हि भवाब्धेस्तारको गुरुः ।।
गुरुभक्तो भवाद्भीतो विनीतो धार्मिकः सुधीः।
शान्तस्वान्तो ह्यतन्द्रालुः शिष्टः शिष्योऽयमिष्यते ।।

(द्वितीयलम्ब-30,31)

अर्थ:- रत्नत्रय अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र से विशुद्ध होने वाले, पात्र-जन पर स्नेह रखने वाले, परोपकार करने वाले, धर्म का परिपालन करने वाले एवं भव-सागर से तारने वाले ही गुरु होते हैं। जो गुरु-भक्त है, संसार-भ्रमण से भयभीत है, विनीत है, धार्मिक है, सद्बुद्धि वाला है, शान्तचित्त वाला है, आलस्य-रहित एवं शिष्ट है, वही शिष्य माना जाता है।

तपःकातर मनुष्य गुरु होना तो दूर, सच्चा योगी भी नहीं बन सकता, अतः गुरु बनने के पूर्व परमार्थ तपस्वी का शास्त्रोक्त स्वरूप ज्ञातव्य है। दूसरी सदी के शास्त्र 'रत्नकरण्ड' में आचार्य समन्तभद्र इसे प्रकाशित करते हैं-

विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः।
ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते ।।

(रत्नकरण्ड, 10)

अर्थ:- जो विषय अर्थात् इन्द्रिय-सुखों की आशा के वशीभूत नहीं हैं, धनोपार्जन के साधनों से दूर हैं, धन-संपत्ति से परे हैं एवं ज्ञान-ध्यान और तपस्या में लीन रहते हैं, वे तपस्वी प्रशंसनीय हैं।

गुरु-गीता में, गुरु कैसे होते हैं? यह एक श्लोक द्वारा कहा है-

गुरवो निर्मलाः शान्ताः साधवो मितभाषिणः।
कामक्रोधविनिर्मुक्ताः सदाचारा जितेन्द्रियाः ।।

अर्थ:- गुरु-जन निर्मल, शान्त, साधु, मितभाषी, काम-क्रोध से मुक्त, सदाचारी एवं जितेन्द्रिय होते हैं।

चातुर्यवान् विवेकी च ह्यध्यात्मज्ञानवाञ्छुचिः।
मानसं निर्मलं यस्य गुरुत्वं तस्य शोभते ।।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थः- गुरु-पद उन्हें शोभा देता है जो चातुर्य-सम्पन्न हैं, विवेकी हैं, अध्यात्म-ज्ञान से युक्त हैं, पवित्र हैं तथा जिनका मन निर्विकार है।

शिष्य के प्रति समयोचित कठोरता का बर्ताव न करने वाले गुरु को वास्तविक गुरु कैसे माना जा सकता है? 'आत्मानुशासन' ग्रन्थ में कहा है-

दोषान् कांश्चन तान् प्रवर्तकतया प्रच्छाद्य गच्छत्ययं,
सार्धं तैः सहसा म्रियेद्यदि गुरुः पश्चात्करोत्येष किम्।
तस्मान्मे न गुरुर्गुरुर्गुरुतरान् कृत्वा लघूंश्च स्फुटं,
ब्रूते यः सततं समीक्ष्य निपुणं सोऽयं खलः सद्गुरुः ।।

अर्थः-(अयं) यह (प्रवर्तकतया) प्रवर्तक होने के कारण (कांश्चन) किन्हीं (तान्) जाने-माने (दोषान्) काम क्रोधादि दोषों को (प्रच्छाद्य) छिपा कर (गच्छति) चलता है। (यदि) यदि (एषः) यह (सहसा) सहसा (तैः सार्धं) उनके साथ (म्रियेत्) मृत्यु को प्राप्त हो जाय, (पश्चात्) फिर (गुरुः) गुरु (किं) क्या (करोति) कर लेगा? (तस्मात्) इसलिये (मे) मेरा (गुरुः) गुरु (गुरुः) गुरु (न) नहीं है। (अयं) यह (यः) जो (खलः) दुर्जन (लघून्) छोटे दोषों को (च) भी (निपुणं) निपुणता-पूर्वक (समीक्ष्य) देखकर (सततं) सदैव (गुरुतरान्) बढ़ा-चढ़ा (कृत्वा) कर (स्फुटं) स्पष्ट(ब्रूते) बोलता है, (सः) वह (सद्गुरुः) उत्तम गुरु है।

तात्पर्यः- जो गुरु मेरे दोष जानते हुए भी मुझसे छिपाता है, वह मुझमें उन दोषों का प्रवर्तन करता है। यदि मेरा मरण सदोष-अवस्था में हो जाए, तो गुरु मेरा कौनसा हित कर लेगा? ऐसे गुरु को मैं गुरु नहीं मानता, किन्तु जो दुष्ट मेरे सूक्ष्म-दोषों की भी बढ़ा-चढ़ा कर मेरी खुली आलोचना करके मुझे सदा सावधान रखता है, उसे मैं अपना श्रेष्ठ गुरु मानता हूँ।

शान्तिदेव ने तो यहाँ तक कहा है कि शत्रु ही हमारा श्रेष्ठ आध्यात्मिक गुरु है। 'गुरु गीता' में (दत्तगुरु ने) त्याज्य गुरु का लक्षण इस श्लोक में दिया है-

ज्ञानहीनो गुरुस्त्याज्यो मिथ्यावादी विडम्बकः।
स्वविश्रान्तिं न जानाति परशान्तिं करोति किम्।।

अर्थः- वह गुरु त्याज्य है जो ज्ञानहीन है, असत्यवादी है और विडम्बना करने वाला है। जो स्वयं विश्रान्त होना नहीं जानता, वह अन्य को क्या शान्त करेगा?

यदि गुरु में स्वार्थ, ईर्ष्या, स्पर्धा, पक्षपात, दुर्वासना, कृत्रिमता आदि विकार हों, तो उनसे किसका हित संभव है? गुरुता एक महान् उत्तरदायित्व है। यदि दीक्षा का दान एवं आदान संघ-वृद्धि एवं नाम-बड़ाई के अर्थ हो, तो स्व-पर-कल्याण कैसे संभव है? दीक्षा मङ्गल-आचरण का मङ्गलाचरण है। शिष्य आत्म-समर्पण करता है, और गुरु उसका आत्मोत्थान करते हैं। दीक्षा का मूल उद्देश्य

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

आध्यात्मिक उन्नति है, प्रदर्शन नहीं। दीक्षाचार्य द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव में से एक को भी उपेक्षित नहीं करते। वे दीक्षार्थी की शारीरिक, पारिवारिक एवं सामाजिक स्थिति समझकर, पवित्र-क्षेत्र एवं शुभ-दिशा को ध्यान में रखकर, शास्त्र सम्मत निर्दोष काल का चयन कर एवं निमित्त ज्ञान आदि से उसकी पात्रता और वैराग्य को देख-परख कर दीक्षा प्रदान करते हैं। भावुकता और उतावली से इष्ट-सिद्धि दुष्कर है।

गुरु का वात्सल्य स्फूर्तिदायक होता है। इसके अभाव में सामान्य साधना भी पर्वततुल्य प्रतीत होती है और इसके प्रभाव से काँटों पर चलना भी फूलों पर चलने जैसा प्रतीत होता है। दीक्षा वेश-परिवर्तन मात्र नहीं, हृदय-परिवर्तन है। सत्य-निष्ठा, वैराग्य, सहिष्णुता, प्रव्रज्या-योग एवं किसी पर भार न होना, ये पाँच गुण शिष्य की दीक्षा को सार्थक एवं गुरु के कार्य को सुगम करते हैं। अविवेक दीक्षा में इसलिये बाधक है कि कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के बोध के अभाव में मनुष्य 'न इधर का, न उधर का' रह पाता है। अविरक्त मनुष्य दीक्षा को भार समझता है अथवा पद का दुरुपयोग करता है। गुरु सब समझते हैं। किसी ने ठीक ही कहा है-

'गुरु से शिष्य की कौन सी बात अनजानी है?
सागर को मालूम है बूंद में कितना पानी है!'

पहुँचा हुआ व्यक्तित्व भी प्रायः अन्त में मोह-ग्रस्त हो जाता है, अतः अन्ततः गुरु-चरणों में प्राण-विसर्जन की भावना शिष्य के हृदय में होती है। अपने अन्तिम क्षणों में गुरु का साक्षात् सान्निध्य हो, तो अहोभाग्य! अन्यथा उनका भक्तिपूर्वक प्राणान्त हो, तो क्या हानि है? यह उक्ति कितनी सुंदर है-

''गुरोश्छत्रच्छाया न परिहरणीया क्वचिदपि''

अर्थः- गुरु की छत्रच्छाया को कहीं भी छोड़ना नहीं चाहिये। गुरु-सान्निध्य के अभाव में भी गुरु-भक्ति उपकार करती है। इसी गुरु-शिष्य-दर्पण में कहा है-

मुच्यमाने गुरावपि मुक्तिः शिष्यस्य संभवेल्लोके।
मुक्तिर्न जायते खलु गुरुभक्तौ मुच्यमानायाम्॥

(गुरु-शिष्य-दर्पण, 21)

अर्थः- जगत् में, गुरु छूटने पर भी शिष्य की मुक्ति संभव है, लेकिन गुरु-भक्ति छूट जाने पर मुक्ति हो ही नहीं सकती।

गुरु की दुर्लभता-विषयक एक श्लोक गुरु-गीता में आता है-

गुरवो बहवः सन्ति शिष्यवित्तापहारकाः।
तमेकं दुर्लभं मन्ये शिष्यहृत्तापहारकम्॥

अर्थः- शिष्य के वित्त का हरण करने वाले बहुत से गुरु हैं। एक उनको मैं दुर्लभ मानता हूँ, जो

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

शिष्य के हृदय का ताप हरते हैं।

निर्मल-हृदय वाले गुरु-शिष्य दोनों दुर्लभ हैं। शिष्यत्व को कलङ्कित करने वाले ब्राह्मण वायुभूति ने तो अपने सगे मामा शिक्षा-गुरु पुरोहित सूर्यमित्र के मुनि होने पर उन्हें भला-बुरा कह कर तिरस्कृत किया और एकलव्य की गुरु-भक्ति का अनुचित लाभ उठाने वाले गुरु द्रोणाचार्य पर आश्चर्य होता है, जिन्होंने गुरु-दक्षिणा के छल से उस बेचारे का अंगूठा ही कटवा लिया। निःस्वार्थ गुरु एवं समर्पित शिष्य धन्य हैं। अमरावती के युवा कवि मनोजीत जैन ने एक दोहे में लिखा है-

दुर्लभ हैं जग में अहो! ऐसे पावन दृश्य।
स्वार्थ रहित गुरु हो जहाँ और समर्पित शिष्य।।

गुरु-भक्ति गुरु के अलौकिक गुणों के समीप लाने वाली शक्ति है। वह किसी सन्त-विशेष का मोह नहीं, अपितु गुणी-व्यक्तित्व का बहुमान है। भावना का मूल्य विज्ञापन से अधिक है क्योंकि समर्पण में कोलाहल नहीं होता। निज-गुरु की कीर्ति के प्रचार-प्रसार के साथ इतर की अवमानना गुणानुराग नहीं, व्यक्तिवाद है। व्यक्तिवाद पक्षपात से उत्पन्न होता है और सांप्रदायिक-विद्वेष को उत्पन्न करता है। सन्त, ग्रंथ और पन्थ के नाम पर होने वाला मानवता का विभाजन , अध्यात्म का नहीं, कटुता का विस्तार है। यथार्थ गुरु-भक्ति में विनीत-भाव का दर्शन होता है, आडम्बर का नहीं। किसी की आलोचना करना अपनी श्रेष्ठता का प्रमाण नहीं है, क्योंकि श्रेष्ठता दोष-मुक्ति का नाम है। अन्तर्निरीक्षण द्वारा निजपरीक्षण करने पर ही दोष-मुक्ति संभव है। जो गुरु के बिना असंभव है। किसी के विचारों से मन को बांधने की अपेक्षा अपने विचारों को पढ़ कर मन के विकारों की पहिचान करके उन्हें विसर्जित करना संघर्ष-मुक्ति की सहज-साधना है।

कभी गुरु अपने शिष्य को प्रतीक्षा कराते हैं, इस परीक्षा में धैर्यवान् ही खरा उतरता है। गुरु-चरणों में पाप-विसर्जन का संकल्प लेना साधना का प्रारम्भिक चरण है। अवसर पा कर भी पाप की इच्छा न होना अधिक महत्त्वपूर्ण है। दीक्षा पूर्णता नहीं, भूमिका है। वेश और परिवेशमात्र का परिवर्तन, जीवन-परिवर्तन नहीं है। महान् होने का भ्रम, महान् होने में बाधक है। गुणी होने का दिखावा, अवगुणों को दृढ़ करता है। तपस्या द्वारा देह-शोषण तभी सार्थक है, जब उसके साथ विकार-शोषण भी हो। भोली जनता की श्रद्धा का अनुचित लाभ उठाना आत्मवञ्चना है, साधुता नहीं। जीवन के किन्हीं कर्तव्यों से घबराकर संसार से मुख मोड़ लेना और त्यागवृत्ति अपनाकर एक काल्पनिक संतोष के भ्रम में जीना वैराग्य नहीं, पलायन है। अपने पैर पुजवाना सुगम है, पूज्य होना कठिन है। उत्कृष्टता पद से नहीं, गुणों से आती है। तृष्णा का रूपान्तरण, तृष्णा-मुक्ति नहीं है। गुरु ही सच्चा मार्ग दिखा सकते हैं।

गुरु के विषय में पाश्चात्त्य विद्वानों ने भी बड़े सुन्दर विचार प्रकट किये हैं। उदाहरणार्थ-ज्योतिर्विद्या की देवी लिंडा गुडमैन ने अपनी पुस्तक 'स्टार साइन्स' **(STAR SIGNS)** में आंग्ल भाषा में

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

गुरु शब्द का विश्लेषण करते हुए पृष्ठ 425 पर लिखा है- **"GURU"** के एक-एक अक्षर का स्पष्ट एवं पृथक् उच्चारण करें। तीन बार दोहराने पर ऐसा लगेगा कि **"GURU"** स्वयं शब्दरूप में कहता है: **G-Gee! U-you R-are...U-you!** अर्थात् अहो! तुम,.... तुम हो! यही तो सारतः सर्व गुरुओं का कार्य है।''

रॉबर्ट ई. स्वोबोड कहते हैं कि सच्चे गुरु, शिष्य की सुविधा को गौण कर उसे ऐसा रगड़ते हैं कि वह जीवन की प्रत्येक परीक्षा में खरा उतर सकता है। वे कच्चे शिष्यों की भीड़ नहीं, किन्तु कुछ ऐसे पक्के शिष्य चाहते हैं जिन पर उन्हें गर्व हो।

26 वर्ष भारत की खोज करने वाले 'ए सर्च इन सिक्रेट इण्डिया' **A Search in secret India** नामक पुस्तक के लेखक डॉ. पॉल ब्रण्टन का मन्तव्य है : गुरुत्व के बाह्य आडम्बर में यद्यपि सत्य लुप्तप्राय हो चुका है, तो भी भारतीय संतों में आज अध्यात्म का पूर्णतः अभाव नहीं हुआ है। ऊपर से सीधे-सादे अथवा सिरफिरे लगने वाले कुछ ऐसे साधक हैं, जिनका अन्तस् विस्मयकारी अनुभवों का भण्डार है। प्रत्येक साधु को अनपढ़ अथवा पाखण्डी समझ बैठना बड़ी भारी भूल है।

जोसेफ स्पार्टी **The runnin'Wolf** में कहते हैं कि श्रेष्ठ गुरु वह है, जिसकी फिर आवश्यकता नहीं रह जाती, जो शिष्य को सर्वोच्च विकास की ही प्रेरणा देता है, जो शिष्य को स्वावलम्बी, स्पष्ट, रचनात्मक, चिन्तनशील, निष्पक्ष-विश्लेषक, आज्ञाकारी और अनुशासित बनाता है। जब शिष्य की समझ, गुरु की समझ से भी उन्नत हो जाये तब समझ लो कि गुरु ने पूर्ण सफलता पा ली। ऐसी निःस्वार्थ एवं उच्च-मानदण्डों वाली विरक्त-छवि में ही गुरु की कल्पना साकार हो सकती है।

डॉ. पॉलाहोरन ने अपनी कृति 'रेकी-108 प्रश्नोत्तर' के 'समर्पण' में लिखा है : 'मेरे उन शिष्यों को समर्पित, जिनमें से कुछ मेरे श्रेष्ठ गुरु रहे हैं!'

भारतीय मनीषियों के विचार भी कितने सुंदर हैं- बिना अनुभवी गुरुओं की साक्षी के धारा गया व्रत अवश्य ही भंग हो जाता है। **(प्रभु-वाणी/पृ. 11/4-4/जिनेन्द्र वर्णी)**

स्वामी मुक्तानन्द का यह कथन बड़ा महत्त्वपूर्ण है: 'गुरु की महत्ता यह है कि तुम जो खोज रहे हो, वह उन्हें मिल गया है।' **(गुरुतत्त्वसार, पिछला कवर पृष्ठ)**

'कठोपनिषद्' में कहा है-

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः।।

अर्थः- यह आत्मा न प्रवचन द्वारा, न बुद्धि से और न अनेक शास्त्रों द्वारा प्राप्त होने योग्य है। यह जिसे वर ले, उसी से प्राप्त होने योग्य है।

इसी परिप्रेक्ष्य में नरेन्द्रसेनाचार्य विरचित ग्रन्थ 'सिद्धान्तसार' का यह श्लोक अत्यन्त प्रासंगिक

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

है-

भववार्द्धिं तितीर्षन्ति सद्गुरुभ्यो विनापि ये।
जिजीविषन्ति ते मूढा नन्वायुःकर्मवर्जिताः ।।
(सिद्धान्तसार, 9.30)

अर्थः– जो लोग सच्चे गुरुओं के बिना भी संसार सागर को पार करने की इच्छा करते हैं, वे मूढ़ वास्तव में आयुकर्म के अभाव में जीवन की इच्छा करते हैं।

गुरु-भक्ति के बिना सारे अनुष्ठानों की व्यर्थता रयणसार ग्रन्थ की इस गाथा में अवलोकनीय है-

गुरुभत्तिविहीणाणं सिस्साणं सव्वसंगविरदाणं।
ऊसरखेत्ते ववविदं सुबीयसमं जाण सव्वाणुट्ठाणं।।

अर्थः- हे जीव! सर्व परिग्रहों से विरत, किन्तु गुरु-भक्ति-रहित शिष्यों के समस्त अनुष्ठान बंजर धरती में बोये गये उत्तम बीज की भाँति व्यर्थ जानो!

समर्पित शिष्य की भावना गुरु-गीता के इन पद्यों में दृष्टिगोचर होती है-

न गुरोरधिकं तत्त्वं न गुरोरधिकं तपः।
न गुरोरधिकं ज्ञानं तस्मै श्री गुरवे नमः ।।
ध्यानमूलं गुरोर्मूर्तिः पूजामूलं गुरोः पदम्।
मन्त्रमूलं गुरोर्वाक्यं मोक्षमूलं गुरोः कृपा।।

अर्थः– तत्त्व गुरु से बड़ा नहीं है, तप गुरु से बड़ा नहीं है और ज्ञान गुरु से बड़ा नहीं है, अर्थात् गुरु तत्त्व, तप और ज्ञान से बढ़कर हैं। उन श्रीगुरु के लिये नमस्कार हो। गुरु की छवि ध्यान का आधार है, गुरु-चरण पूजा का मूल है, गुरु-वचन मन्त्र का मूल है, तथा गुरु की कृपा मोक्ष का मूल है।

योगी गोरक्षनाथ विरचित 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' के पञ्चम अध्याय का यह श्लोक देखें-

किमत्र बहुनोक्तेन शास्त्रकोटिशतेन च।
दुर्लभा चित्तविश्रान्तिर्विना गुरुकृपां पराम्।।

अर्थः– इस विषय में अधिक कहने से क्या लाभ है? तथा सैकड़ों-करोड़ों शास्त्रों से क्या प्रयोजन है? गुरु की परम-कृपा के बिना चित्त की विश्रान्ति दुर्लभ है। श्री कृष्ण से उपमन्यु कहते हैं-

गुरोरालोकमात्रेण स्पर्शनाद्भाषणादपि।
सद्यः संज्ञा भवेज्जन्तोः पाशोपक्षयकारिणी।।

अर्थः– गुरु के दर्शन मात्र से, स्पर्श से और संभाषण से भी प्राणी के बन्धन का क्षय करने वाली संज्ञा अर्थात् चेतना तत्काल आविर्भूत होती है। 'गुरु गीता' में 'गुरु' शब्द को महामन्त्र माना है-

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

सप्तकोटिमहामन्त्राश्चित्तविभ्रमकारकाः।
एक एव महामन्त्रो गुरुरित्यक्षरद्वयम्।।

(गुरुगीता,39)

अर्थः– सात करोड़ बड़े-बड़े मन्त्र चित्त में विभ्रम उत्पन्न करते हैं। दो अक्षरों वाला 'गुरु' शब्द ही अद्वितीय महामन्त्र है।

'अष्टपाहुड' की टीका में उद्धृत यह श्लोक कितना मार्मिक है-

ये गुरुं नैव मन्यन्ते पूजयन्ति स्तुवन्ति न।
अन्धकारो भवेत्तेषामुदितेऽपि दिवाकरे।।

अर्थः– जो गुरु को ही नहीं मानते, न पूजा और न स्तुति करते हैं, सूर्य का उदय होने पर भी उनके लिये अन्धकार होता है।

'श्री गुरुमहिमा' नामक पुरस्कृत कृति के लेखक आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी गुरु के विषय में पृष्ठ 33 पर लिखते हैं-

"......ऐसे महामहिम अकारण करुणालय से मनुष्य कभी उऋण हो सकता है?"

सारांश में यही कहना होगा कि गुरु की महिमा अवर्णनीय है-

स्याही समुद्र भर हो, लिपि सर्व भाषा, पन्ना धरा, कलम हो सुरवृक्ष-शाखा।
माँ शारदा यदि सदा लिखती रहेगी, तो भी न पार गुरु का वह पा सकेगी।

(क्षुल्लक श्री ध्यानसागर जी कृत पुस्तक 'गुरु-शिष्य-दर्पण' से साभार)

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org